

आदिकाल के नामकरण एवं सीमा निर्धारण ।

(प्रश्न - 2) आदिकाल नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचार प्रस्तुत करें । अथवा

आदिकाल के नामकरण के आरंभिक, मध्य, प्रथम तथा इसकी परिस्थितियों को संक्षेप में लिखें ।

अथवा  
वीरगाथा काल की परिस्थितियों और तत्कालीन साहित्य का सम्बन्ध विवेचन कीजिए ।

अथवा  
उपरोक्त उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए कि हिन्दी साहित्य का आदिकालीन साहित्य युगीन परिस्थितियों की उपज है ।

उत्तर - हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वान एवं विचारक अलग-अलग मत व्यक्त करते हैं और इसका मूल कारण यह है कि तत्कालीन साहित्यिक सामग्री बहुत ही सीमित मात्रा में प्राप्त हुई। अपने इतिहास ग्रंथ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल की इन बारह पुस्तकों का उल्लेख किया है - 1. विजयपाल रासो, 2. हम्मीर रासो, 3. कीर्तिलता, 4. कीर्तिपत्रिका, 5. कुमान रासो, 6. बीसल देव रासो, 7. पृथ्वीराज रासो, 8. जयचन्द्र प्रकाश, 9. जयमयंक जयचन्द्रिका, 10. परमानन्द रासो, 11. खुसरौ की प्रहलियाँ और 12. विद्यापति की पदावली । इनमें से प्रथम चार उपग्रंथ की हैं और शेष भाषा-काल में लिखी गई हैं। शुक्ल जी विचार यह है कि इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है । इस प्रकार उनका कहना है कि उक्त बारह कृतियों में से आदिम दो और बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सभी वीरगाथात्मक हैं अतः यह काल वीरगाथात्मक काल कहला सकता है । किन्तु आचार्य शुक्ल के इन विचारों

से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सहमत नहीं हैं और उनका यही कहना है कि "यह नाम वर्तमान ज्ञान के आच्छेद में बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। शुक्ल जी ने जिन रचनाओं को प्रमाणिक मानकर इस काल का नामकरण किया था, उनमें से आर्षिकंश, संहिता और अप्रमाणिक हैं, फिर इधर अनेक अज्ञानपूर्ण कार्यों का पता लगा है जो पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं कि नामकरण के समय शुक्ल जी के सामने ये पुस्तकें नहीं थीं। साथ ही डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने भी अपनी उत्प्रेक्षणीय कृति 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि वीरगाथाएँ किसी भुक्त विशेष की प्रवृत्ति न होकर चरण भाँके कुड़का के कवियों की जातिगत मनावृत्ति की सूचक हैं और यदि हम इन रचनाओं के आधार पर किसी काल विशेष का नामकरण करना चाहते हैं तो हमें यह मानना होगा कि वीरगाथा काल राजस्थान में आज भी ज्यों का त्यों बना है।

हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल को आर्षिकाल, अपभ्रंश काल, चरण काल आदि नामों से अभिहित किया गया है। आचार्य शुक्ल के बाद महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी इसे वीरगाथा काल माना। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी कहीं-कहीं पंडित राहुल सांकृत्यायन की बातों का समर्थन करते हैं। हम यह मान सकते हैं कि हिन्दी साहित्य के आर्षिकाल के नामकरण का आधार बहुत कुछ खिड़नीय, जैन आदि साहित्य, राज्याश्रित कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं के प्रशस्ति-गान, रासो कव्य आदि है।

अपभ्रंश काल - प्राकृत से अलग भाषा का जो स्वरूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया, वह भी आगे चलकर पुराना पड़ना गया और अपभ्रंश



का रूप ग्रहण कर लिया। जब तक भाषा बोलचाल में थी, तब तक वह भाषा या देश भाषा ही कहलानी रही किन्तु जब वह साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का प्रयोग होने लगा।

विक्रम की तीसरी शती में अरब मुनि ने अपभ्रंश नाम न देकर लोकभाषा को देशभाषा ही कहा है। अपभ्रंश का नाम पहले - पहले वेंलमी के राजा चारसेन द्वितीय के डिल्लालेख में मिलता है। विक्रम संक 650 के पहले अपने पिता गुहरीन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है। 7वीं शती में भास ने भी तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है। हेकेशन, पुष्पदंत, राजशेखर आदि कवियों ने अपभ्रंश में रचनायें कीं। अपभ्रंश काल की जो नयी पुरानी कविताएँ प्राप्त हुई हैं उनसे इस बात का अनुमान हो सकता है कि कवि भाषा प्राकृत की रुढ़ियों से कितनी बँधी हुई चली रही। बोलचाल तक के तत्सम शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाता है। उदाहरणार्थ उपकार, नगर, वचन ऐसे प्रचलित शब्द भी उअगर, नअर, वअण बनाकर ही रचे जाते थे। विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रंश काल में कुदंत विशेषणों से बहुत कुछ उठ चुका था किन्तु प्राकृत की परम्परा के अनुसार अपभ्रंश की कविताओं में कुदंत विशेषण भी उपलब्ध होता है, उदाहरणार्थ -

“जुलवण गयुंन मुरी - गये की यौवन को न मूर-गये यौवन को न पक्षों

ओगियों की वाणी, शब्दों का प्रयोग वैभिन्य भाषा में परीकरण आदि अपभ्रंश काल नाम के मुख्य लक्षण हैं।

चारणकाल नामि का आधार - आचार्य शुक्ल के अनुसार राजसभाओं में सुनाये जाने वाले नीति, शृंगार

आदि विषय प्रायः दोहों में कहे जाते थे और वीर रस के पडा  
 दृष्य में। राज्याश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम  
 और प्रताप का वर्णन अगूठी उक्तियों के साथ किया करते थे  
 और अपनी वीराल्लास भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित  
 किया करते थे। ऐसे राज्याश्रित कवियों की रचनाओं के  
 रक्षित होने की आधिक युक्तिवा थी। वे राजकीय  
 पुस्तकालयों में भी सुरक्षित थीं और महु, चारण आदि  
 जीविका के विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास  
 भी छोड़ जाते थे। उत्तरात्ता महु, चारणों की इस परंपरा में  
 चलते रहने से उनमें बहुत कुछ फेर-बदल भी हो रहा।  
 साहित्य की इसी परंपरा के कारण हिन्दी साहित्य के  
 आरंभिकाल का चारण काल भी कहने हैं।

प्रख्यात समीक्षक डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा  
 है कि "वीरगाथाओं का विषय प्रधान रूप से राजाओं  
 का यशोगान था। उनके युद्ध कौशल, उनकी धर्मवीरता,  
 उनके ऐश्वर्य का वर्णन अंग्रेजी और शक्तिशाली भाषा  
 में किया जाता था। अपने नायक की श्रेष्ठता प्रदर्शित  
 करने के लिए कवि विपक्षी (हिन्दू अथवा मुसलमान) की  
 हीनता का नग्न चित्र अंकित करता था। कथा का  
 स्वरूप आधिकतर कल्पना से ही निर्मित हुआ करता था  
 यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें  
 प्राप्ति होता था पर उसमें कल्पना के सहारे और भी  
 विस्तार किया जाता था। तथि और सत्यता पर भी बहुत  
 आधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। कथा में वर्णनात्मकता  
 ही आधिक होती थी। वस्तुओं की सूची तथा सेना  
 आदि का वर्णन आवश्यकता से अधिक हुआ करता  
 था, यद्यपि उसका उद्देश्य एकमात्र नायक की शक्ति  
 और उसकी वीरता की सूचना देना था। कहीं-कहीं तो  
 ये वर्णन नीरस भी हो गये हैं, अतएव कवि का  
 आदर्श आधिकतर अपने चरित नायक के गुण-वर्णन  
 तक ही सीमित रहता था।" तात्पर्य यह है कि इस

काल के अधिकांश रचनाकार अपने आश्रयदाताओं के गुणगान किया करते थे।

भाषा शैली की दृष्टि से अब हम आदिकालीन साहित्य पर विचार करते हैं जो हम देखते हैं कि आदिकाल में अपभ्रंश, डिंगल, मैथिली व खड़ी बोली नामक चार भाषाओं की रचनाएँ मिलती हैं। मैथिली में लिखी गयी विद्यापति की पदावली इस काल का एकमात्र उल्लेखनीय रचना है और खड़ी बोली को मूलक अमीर खुसरौ की रचनाओं में देख पड़ती है। अमीर खुसरौ की पहलियाँ और मुकरियों की भाषा अरबी-फारसी होने-एव भी क्रियायें हिन्दी की प्रयुक्त हुई हैं व उनके तत्कालीन जनभाषा के दर्शन ही होते हैं परन्तु मैथिली व खड़ी बोली की अपेक्षा अपभ्रंश और डिंगल की रचनाएँ ही उसे समग्र अधिक मात्रा में मिलती हैं। अतः इन दो भाषाओं को ही आदिकाल की प्रमुख भाषाएँ मानना होगा। इस काल की रचनाओं में चरित नामकों को आलम्बन मानकर उनका ही चित्रण किया गया है किन्तु इतिहास की दृष्टि से अधिकांश रचनाओं की प्रमाणिकता और सत्यता में संदेह है चरित नामकों के अदाल्मक वर्णन से उनमें आस्वाभाविकता आ गयी है।

डिंगल भाषा का प्रयोग राजस्थान में विशेष रूप से हुआ है और उसे राजस्थानी भाषा कहा जा सकता है। रासो ग्रंथ की रचना इसी भाषा में हुई है पर भाषा की दृष्टि से डिंगल साहित्य में सुझने नहीं है तथा यह अल्पव्यक्त भी है। उसे पूरे अपभ्रंश का भी प्रभाव पड़ा है और न केवल डिंगल के शब्दों का मिश्रण उसमें देख पड़ता है बल्कि अरबी फारसी शब्दों की भी कमी नहीं है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा ही आदिकाल में विशेष रूप से प्रयुक्त हुई है और इसके दो रूप देख पड़े हैं जिन्हें विद्वानों ने भौगोलिक दृष्टि से पूर्वी व पश्चिमी शाखाओं का नाम दिया है।



इस काल के कवियों की दृष्टि संबोधना से परे प्रतीत नहीं होगी, क्योंकि अपने आश्रयदाताओं के अतिरिक्त वर्णन में उनकी दृष्टि व्यापक नहीं रह पायी है। कवि या रचनाकार युग दुष्टा होता है। इस माने वह जिस परिवेश में रहता है, उसके वर्णन की अपेक्षा उल्टे की जाती है। इस वर्णन को अगर वह अनदेखा कर देता है, तो उसकी ईमानदारी के प्रति एक प्रश्न चिन्ह लग जाता है। इस काल के कवियों का सामान्य जन-जीवन या चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है। अनेक दृष्टियों से इस काल की रचना समदत्वपूर्ण होने हुए भी कुछ दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इन कवियों में वीर और शृंगार का अद्भुत वर्णन मिलता है। कुछ हिन्दी-मनीषियों का तो यहाँ तक कहना है कि इस काल की रचनाओं में वीर-रस का प्रदर्शन इस रूप में किया गया है कि उनका शाब्दिक हिन्दी साहित्य के पारवर्ती काल में मिलना मुश्किल है। वीर रस के आतिरेक शृंगार रस का सम्बन्ध चित्रण हमें उपलब्ध होता है। इस काल की रचनाओं में वीर और शृंगार रस के शारीरिक विमल, रौद्र, कल्प, हास्य आदि रसों का भी समावेश किया गया है। प्रसंगानुसृत प्रकृति चित्रण भी हुआ है।

वस्तुतः अपभ्रंश का सर्वाधिक प्राचीन रूप लौकिक और योगमार्गी लौकिक कृतियों के रूप में प्राप्त होता है तथा जैन आचार्यों ने भी इसी भाषा को अपनाया है। नथि पंक्तियों द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश में खड़ी बोली का पुट भी दीख पड़ता है। अतः भाषा शैली की दृष्टि से यह काल एक तरह से संक्रान्ति-काल ही कहा जायेगा। इस काल में जीवन की सच्ची अनुभूतियों एवं आविर्भाव निष्ठा से निःसृत थे काल चिंतन प्रधान एवं लौकिकता से कोमिल नहीं है। सारे के सारे काल हिंस्र और आत्मा को दू देने वाले हैं। काल प्रसार गुण युक्त है। कथानक में न तो कोई घुमाव-फिराव है और न ही कोई उपमन ही। अंत में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इस काल की प्रायः सब काल परम्पराएँ एवं प्रवृत्तियाँ उत्तर में हिन्दी में चलती रही हैं और उन्होंने अधिककाल उत्तर दिगंतकाल तक को प्रभावित किया है।